ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 104-107

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-15, No.- III, Issues-25, YEAR- July-Sept.-2022

राजपूत कालीन आर्थिक जीवन (राजस्व प्रणाली)

डॉ0 रश्मि सिंह

प्राचीन इतिहास (उ0प्र0) भारत

Received-28.07.2022, Revised-04.08.2022, Accepted-09.08.2022 E-mail:vivek.rppg@gmail.com

सारांशः – *सामाजिक सुदृढ़ता के लिये आर्थिक स्थायित्व आवश्यक है। अतः भारतीय राज्य शास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के घटकों में कोष की महत्ता को स्वीकार किया है। इसकी समृद्धि तथा इसके प्रति जागरूकता राजा का धर्म बताया गया है। अतः पुराणों में देवताओं से प्रार्थना की गयी है कि कोष की समृद्धि में सहायक हों। इसके लिये अनेक प्रकार के कर तथा भाग लेना स्वीकार किया गया है, पर राजा या समाज भी स्वतन्त्र नहीं था कि संग्रह किये हुए धन का स्वेच्छा से उपयोग करे। इसके लिये कुछ सीमायें एवं प्रतिबन्ध लगाये गये थे। प्रत्येक राज्य शास्त्र प्रणेता ने वार्ता (अर्थनीति) का बड़ा ही व्यापक विवेचन किया है। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि "अर्थानर्थौ वार्तायाम" अर्थात् आर्थिक नीति से लाभ भी हो सकता है और हानि भी। महाभारत में कहा गया है कि "वार्तया धार्यते सर्वम्" अर्थात अर्थनीति के कारण भी सभी को वश में रखा जा सकता है। महाभारत के अनुसार कोष ही राज्य का मूल है, अतः अत्यन्त परिश्रम एवं कौशल से इसका संचय करना चाहिये। सोमदेव सूरि के अनुसार राजा कोष रूपी वायु से जीवित रहता है, साधारण हवा से नहीं। भीष्म के अनुसार कोष की रक्षा करना चाहिये। राजाओं की शक्ति कोष और सेना है। सेना भी कोष पर ही आधारित होती है। सेना धर्म का मूल है, धर्म राज्य का मूल है, अतः कोष सबका मूल हुआ। इसीलिये कोष की वृद्धि करनी चाहिये। कोष की अभिवृद्धि का मूल साधन कर होता है। राजपूत काल में पहले की ही तरह राजस्व प्रणाली देखने को मिलती है।*

कुंजीभूत शब्द– सामाजिक सुदृढ़ता, आर्थिक स्थायित्व, राज्य शास्त्र, महत्ता, स्वीकार, जागरूकता, राजा का धर्म, पुराणों।

कर निर्धारण के कारण — प्रत्येक सरकार को सुव्यवस्थित शासन चलाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने धन को बहुत अधिक महत्व दिया है। महाभारत में धन के महत्व को अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है। दान से ही धर्म का पालन, कामना की पूर्ति, स्वर्ग की प्राप्ति, हर्ष की वृद्धि, क्रोध की शान्ति, शास्त्रों का अध्ययन तथा शत्रुओं का दमन संभव है। अतः धन संग्रह करना राजा का कर्तव्य माना गया है।

राज्य संचालन हेतु कोष वृद्धि होनी चाहिये। कोष वृद्धि प्रजा के कर के रूप में अर्थ संचय द्वारा होती है। इसीलिये राजकोष की वृद्धि हेतु प्रजा से अर्थ संचय करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। परन्तु राजा को इस कर्त्तव्य का निर्वहन नियमपूर्वक करना चाहिये। राजपूत कालीन अभिलेखों से पता चलता है कि कर निर्धारण नियमपूर्वक होना चाहिये, जिससे कर देने वाले को कष्ट न हो और राजा को उसका अंश भी मिल जाय। इस युग में कोष भरने के प्रधान साधन कर थे। इनका सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद की ऋचाओं से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में राजा को वलिद्धत कहा गया है। इससे पता चलता है कि राजा प्रजा से वलि ग्रहण करता था। यह शब्द उन वस्तुओं का द्योतक है जो लोग स्वेच्छा से देवताओं को अर्पित करते थे। परन्तु कालान्तर में यह शब्द कर के रूप में प्रयुक्त होने लगा था। इस समय के प्राप्त अभिलेखों में राजा को कहीं–कहीं पर विशमत्ता कहा गया है। इससे भी आभास होता है कि राजा प्रजा से कर ग्रहण करता था। महाभारत, महाकाव्य, अर्थशास्त्र में कर–व्यवस्था का सूसम्बद्ध वृत्तान्त मिलता है। इन ग्रन्थों में वर्णित कर–व्यवस्था बड़ी उच्च कोटि की थी। यह किसी भी देश तथा किसी युग की कर–व्यवस्था की तुलना में खरी उतरती थी।

आचार्य भीष्म ने क्रोध की उपयोगिता के गुणगान किये हैं, लेकिन उन्होंने इस ओर भी समुचित ध्यान दिया है कोष वृद्धि के निमित्त अर्थसंचय कार्य में राजा को स्वच्छन्द नहीं होना चाहिये। क्योंकि स्वतन्त्र होने पर प्रजा को क्लेश प्राप्त की संभावना रहती है। इसीलिये राजा के इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। राजकोष हेतु धन संचय करने के जो साधन निर्धारित किये गये हैं, उनमें प्रजा को हर प्रकार से सम्पन्न, सुखी एवं समृद्ध करना चाहिये। जिससे राजा के लिये धन दान हेतु स्वयं वह तत्पर हो तभी कर चलाने चाहिये। दूसरे रूप मे कर लगाने से प्रजा को व्यथा का अनुभव नहीं होना चाहिये।

भीष्म ने राजा को कर लगाते समय ध्यान रखने को कहा है कि कर मूल धन पर न लगे। जो पूँजी व्यापार एवं व्यवसाय में लगायी गयी है, उस पर जो लाभ हो उसी पर कर लगाना चाहिये। राजा प्रजा की रक्षा के लिये उस पर कर लगा सकता है, जो छठें भाग से अधिक नहीं होने चाहिये। भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया है कि वलि, शुल्क, दण्ड, आदि करों के द्वारा जो धन प्राप्त होता है, वह राजा का वेतन होता है। कर इतना ही लगाना चाहिये जो प्रजा की सामर्थ्य के अनुरूप हो, जिसको प्रजा आसानी से वहन कर सके। राजा को कर दर धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिये, जिससे प्रजा पर एकाएक भार न बढ़ जाये। आपत्तिकाल के विषय में भीष्म ने बताया है कि यदि राजकोष रिक्त हो जाता है तो राजा अतिरिक्त कर

अनुरूपी लेखक/संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-15, No.- III, Issues-25, YEAR- July-Sept.-2022

लगा सकता है।

कौटिल्य कर लगाने के बारे में कहते हैं कि बिना कर लगाये राजा प्रजा की रक्षा ठीक ढंग से नहीं कर सकता है। उसके अनुसार राजकोष में इतना धन रहना चाहिये, जिससे प्रजा पर बाहरी आक्रमण या किसी प्रकार के बाढ़, अकाल से उसके जरूरतों को पूरा कर सके।

राष्टक्रूट कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राज्य भूमिकर लेता था, जो उपज का चौथाई भाग होता था। चोल साम्राज्य में सरकार की आय का प्रमुख साधन भूमि कर था। कर वस्तु अथवा नकद के रूप में लिया जाता था। कुछ ब्राह्मणों को भूमि कर से मुक्त कर दिया गया था। किसानों का भूमि पर पूर्ण अधिकार था। करों को एकत्रित करने का कार्य ग्राम सभायें करती थीं। भूमिकर के अतिरिक्त चोल साम्राज्य में पानी पर कर, व्यापारिक चुंगी एवं जुर्मानों आदि से राज्य की आय होती थी। स्वर्णकार और बुनकरों पर भी कर लगते थे। कर वसूल करने में राज्य की नीति उदार थी। ग्यारहवीं शदी के लेखक अलबीरूनी का कथन है कि कृषक जो कुछ फसलों और पशुओं से अर्जित करता है, उसमें वह राजा को कर देने के लिये बाध्य है। वह अपनी आय का 1/6 भाग राजा को प्रदान करता है। पूर्वमध्य युग में समाज में कृषकों से अनेक प्रकार के कर लिये जाने लगे थे, जैसे भाग, भोग, वलि, कर, धान्य, हिरण्य, उद्रंग, उपरिकर, उदक–भाग, प्रतिभाग आदि।

राजपूत कालीन कर व्यवस्था पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि पल्लवों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, चोलों, आदि की शासन–व्यवस्था में कराधान के नियम प्राचीन नियमों के ही समान थे। पुलकेसिन द्वितीय ने हैदराबाद दानपत्र लेख में लिखा है कि निधि, उपनिधि, विलष्ट और उपरिकर के साथ ग्राम का दान किया गया। शीलादित्य के 671 ई0 के नौसारी के अभिलेख में दान में उद्रंग और परिकर की भी गणना है। इनसे तहबाजारी और चुंगी का तात्पर्य है। सामान्य करों के अतिरिक्त सामाजिक कर भी लगते थे।

पुलकेशिन द्वितीय ने जब वाणराज्य की विजय की थी तो उसके तुरन्त बाद उसने प्रत्येक गाँव पर तेरेपीन (सुवर्ण के रूप में कर) लगाया था। कुछ खास–खास मौकों पर अथवा कुछ संस्थाओं के खर्च के लिये भी कर लगाये जाते थे। विजयादित्य के शासनकाल का एक लेख बादामी से मिला है, इसमें राजमाता विनयवती द्वारा निर्मित त्रिमूर्तियों के मन्दिर के नाम अनेक करों और तेल शर्करा आदि के रूप में प्रति दुकान से निश्चित मात्रा में मिलने वाली आय के दान का उल्लेख है। इन वस्तुओं का उपयोग देवताओं के दैनिक भोग में होता रहा होगा।

कर निर्धारण के सिद्धान्त — प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजकर सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में निर्देश है कि राजा को कर निश्चित करते समय इन सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिये।

1. कर सीमित तथा न्यायोचित होना चाहिये। प्रजा अत्यधिक कर लेने वाले राजा से जितनी रूष्ट होती है उतना किसी अन्य से नहीं। माली जिस प्रकार वृक्ष से फल तथा फूल तोड़ लेता है, परन्तु वृक्ष को हानि नहीं पहुँचाता है; राजा को उसी प्रकार से कर लेना चाहिये जिससे प्रजा को कष्ट न पहुँचे। राजा को अपना आचरण उस मधुमक्खी के समान रखना चाहिये जो वृक्षों को बिना कष्ट पहुँचाये उनसे मधु एकत्र करती है।
2. राजा को लोभ में आकर एक ही साथ बहुत अधिक कर नहीं लगाना चाहिये। इससे अपनी तथा दूसरों की हानि होती है। इस सम्बन्ध में महाभारत के भीष्म पर्व में कहा गया है कि बछड़ा गाय के थन से दूध निकाल लेता है, परन्तु सम्पूर्ण दूध के लोभ में गाय के स्तनों को नहीं काट देता। कर लेने वाले राजा की भी यही स्थिति होनी चाहिये। राजा तथा प्रजा विशेष रूप से कृषक तथा व्यापारी यह समझें कि उन्हें अपने परिश्रम का उचित लाभ प्राप्त हो रहा है।
3. कर थोड़ा–थोड़ा कर के क्रमशः धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिये। यदि राजा के लिये कर में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक ही हो तो वृद्धि अकस्मात् नहीं करनी चाहिये।
4. किसी वस्तु पर कर एक ही बार लेना चाहिये, एक ही वस्तु पर कर पुनः नहीं लगाना चाहिये।
5. कर उपयुक्त काल तथा स्थान के अनुसार विधिपूर्वक लगाना चाहिये, जिससे जनता को किसी प्रकार का कष्ट न हो।
6. राज्य पर संकट अथवा विपत्ति के समय अतिरिक्त कर लगाना चाहिये, कोई अन्य उपाय न रहने पर ही राजा को अतिरिक्त कर लगाना चाहिये।
7. राजा को देश, जाति तथा आचार के अनुसार नये तथा पुराने प्रत्येक पदार्थ पर कर का निर्धारण करना चाहिये।
8. कर लगाते समय राजा में लाभ की वृत्ति या तृष्णा की वृत्ति नहीं होनी चाहिये। इस वृत्ति के होने पर वह उचित से अधिक कर लगाता है और इससे जनता का अनुचित शोषण होता है।
9. महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार अधिक दूध दूह लेने पर बछड़ा निर्बल हो जाता है, और बड़ा होने पर अधिक बोझ नहीं ढो सकता। उसी प्रकार प्रारम्भ में ही अधिक कर लगा देने पर कर दाता निर्बल बन जाता है और आगे अधिक कर

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-15, No.- III, Issues-25, YEAR- July-Sept.-2022

देने की क्षमता उसमें नहीं रहती। अतएव उचित मात्रा में कर लगाना चाहिये जिससे उसका जनता के विकास में बाधक न बनें।

10. मेधातिथि ने कहा है कि छोटे किसानों से जोंक की तरह कर लेना चाहिये कि कर भी वसूल हो जाय और कर दाता को बोझ की अनुभूति न हो।
11. चाहे किसी के पास सम्पत्ति हो या नहीं शरीर से ठीक व्यक्ति को कर देना ही पड़ता था। यह कर सामाजिक लाभ के उद्देश्य से लगाया जाता था।
12. कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि उत्पादक या करदाता को यह अनुभूति होती रहे कि उसके व्यवसाय में लाभ की मात्रा फिर भी अधिक है, जिससे वह अपने व्यवसाय में कार्य करता रहे।
13. कर मूल उत्पादन की लागत को मिलाकर नहीं लगाना चाहिये अपितु लाभ पर ही लगाना चाहिये, जिससे उत्पादक को लाभ का अंश उचित मात्रा में मिलता रहे। कर निर्धारण करते समय व्यय, रूकावट, सुरक्षा, यातायात आदि का ध्यान रखा जाता था।

प्रत्येक सरकार को सुव्यवस्थित शासन–संचालनार्थ धन की आवश्यकता होती है। इसलिये प्राचीन समय से धन को राज्य संचालनार्थ महत्वपूर्ण माना गया है। कर निर्धारण के सिद्धान्तों में इस बात पर विस्तार से वर्णन किया गया है। फिर भी राजा की सर्वोच्च स्थिति के बावजूद विधि ग्रन्थों में दृढ़ता से कहा गया है कि कर मनमाना नहीं होना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि विधि निर्माताओं को इस बात की जानकारी थी कि कर उगाही में किसी भी तरह की अनिश्चितता राज्य तथा कर दाता दोनों के लिये कष्टप्रद होगी। इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है क्यों हमारे स्रोत ग्रन्थों में भूराजस्व तथा अन्य भुगतानों की रकम प्रायः निर्धारित कर दी गयी है।

कौटिल्य का आदेश है कि किसी बिक्री की सामग्रियों पर कर हमेशा के लिये निर्धारित कर देने चाहिये। मनु लिखते हैं कि कर शास्त्रानुसार वसूल करने चाहिये। महाभारत के एक श्लोक में बताया गया है कि जो कर शास्त्र द्वारा अनुमोदित न हो, उन्हें उगाने में राजा अपना अपकार करता है। प्रायः हिन्दुओं की कर सम्बन्धी नियम की एक महत्वपूर्ण विशेषता करदाता की आर्थिक क्षमता और राज्य की आवश्यकताओं में सामंजस्य स्थापित करना मालूम होता है।

मनु के अनुसार यदि राजा आर्थिक संकट में हो तो भी उसे अनापत्तिजनक कर नहीं लेना चाहिये और यदि वह समृद्ध भी हो तो भी उसे उचित कर की रकम नहीं त्यागनी चाहिये।

इन सभी बातों से स्पष्ट होता है कि राज्य का राजस्व अन्ततः व्यक्ति द्वारा धनोत्पादन पर निर्भर करता है और इस धनोत्पादन को घटाने वाली किसी चीज की प्रतिक्रिया राज्य के राजस्व पर पड़ना अवश्यम्भावी है। कराधान के प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि कर राजा द्वारा प्रजा की सुरक्षा के लिये उसका प्रतिफल है।

सुरक्षा का तर्क देने वाले अधिकांश पूर्ववर्ती लेखकों ने आनुपातिक कराधान के पक्ष में अपना निर्णय दिया है और एक दो अवतरणों को छोड़कर स्वयं एडमस्मिथ भी इसके प्रमुख प्रतिपादक थे। सामान्यतः यह माना गया है कि सुरक्षा की आवश्यकता को आय और धन या कुछ मामलों में धन के अनुपात में भी आँका जाए। लेकिन हमारे विधि ग्रन्थों में यह बताने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि धन आय या व्यय में वृद्धि जैसे विचारों ने राजस्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। निःसन्देह विधि ग्रन्थों में उपज के षष्टांश, अष्टांश, दशांस या द्वादशांश की विविध दर निर्धारित है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि षष्टांश के पक्ष में भावना अधिक प्रबल थी। अतः जिस अनुपात का राजा हकदार था वह लगभग एक समान प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचित सिद्धान्त हमेशा कोरे सिद्धान्त हीं नहीं रहे हैं, इसका अनुमान राजपूत कालीन अनेक अभिलेखों से होता है। ये अभिलेख बताते हैं कि शायद राजाओं ने विधि निर्माताओं के नियमों का सामान्यतः पालन किया और प्रजा के साथ निरंकुशतापूर्ण व्यवहार नहीं किया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. महा0, 12/119/16; काम0, 13/33 आदि।
2. ऋग्वेद, 5/1/10.
3. कोषमूला ही राजानः कोषो वृद्धिकरो भवेत्। –– महा0, 12/119/16.
4. नीतिवाक्यामृत, पृ0 81.
5. महा0, शान्तिपर्व, 110/16.
6. महा0, शान्तिपर्व, 8.21.

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-15, No.- III, Issues-25, YEAR- July-Sept.-2022

7. वही, 8.26.
8. महा0, शान्तिपर्व, 8.21.
9. वही, 8.26.
10. शान्तिपर्व, 10.17.
11. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 94.
12. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स जि0 9 खंड सं0 46, पंक्तियाँ 66–67.
13. कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इन्डिकेरम् सं0 2.
14. "प्रतिवर्षति परिख्यातं राजानमतिस्रादिनम्।" –– महाभारत, 12, 87, 79.
15. मधुदोहं दुहेद्राष्टं भ्रमरा इव पादपम्। –– महाभारत, 12, 88, 4.
16. "निच्छिद्यात्मनो मूलं परिषां चापि तृष्णयन"। –– वही, 12, 87, 16.
17. विक्रयं क्रयमध्वानभक्तं च परिव्ययम्।
योगक्षेमं च सप्रेक्ष्य वणिजी दाययेत्कान्।। –– मनु0 7, 127.
18. "सकृदेव न हि प्रयोज्यः।" –– अर्थशास्त्र, 5, 2.
19. वही, 12/87/0–1.
20. मत्स्यपुराण अ0 4, द्वितीय, 220–6.
21. मनु0, 7/27.
22. अर्थशास्त्र, 2, 12.
23. मनुस्मृति, 7, 80.
24. शान्तिपर्व, 72, 15.
25. घोषाल, यू0एन0 (दि कन्ट्रीब्यूशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम).

*****